दिसंबर 2012 मूल्य : 25 ₹

पक्षी

सृजन की उड़ान

सत्यनारायण पटेल की लंबी कहानी 'काफिर बिजूका उर्फ इब्लीस'

तू हर इक पल का शायर है...!

पवन कुमार

यश चोपड़ा नहीं रहे। बीते 21 अक्टूबर की शाम अचानक खबर आई कि डेंगू से पीड़ित यश चोपड़ा का मुंबई के लीलावती हॉस्पिटल में देहांत हो गया। यूं तो यश जी ने खुद के रिटायर होने की घोषणा चंद दिनों पहले ही कर दी थी, मगर यह थोड़े ही पता था कि ऊपर वाला उनकी इस घोषणा को इतना सीरियसली ले लेगा। यश चोपड़ा का विदा हो जाना हिन्दी सिने उद्योग के लिए भारी क्षति है क्योंकि हिन्दी व्यावसायिक सिनेमा में नए ट्रेंड स्थापित करने और बॉक्स ऑफिस की नब्ज पकड़ने में यश चोपड़ा को अपने समकालीनों से कहीं ज्यादा महारत हासिल थी।

27 सितंबर 1932 को लाहौर में जन्मे यश चोपड़ा आज के दौर के सर्वाधिक रोमांटिक और फैंटेसी गढ़ने वाले निर्देशक के रूप में प्रतिष्ठित थे। अपने करियर के शुरुआती दौर में वे अपने बड़े भाई बी.आर. चोपड़ा के साथ सहायक निर्देशक के रूप में काम करते रहे। बतौर सहायक निर्देशक उन्होंने 'एक ही रास्ता', 'साधना' और 'नया दौर' में काम किया। इसके बाद बी.आर. चोपड़ा ने उन्हें स्वतंत्र निर्देशक की हैसियत से 'धूल का फूल' (1959) सौंपी। यह फिल्म जबरदस्त रूप से सफल हुई।

1953 से जब उन्होंने बतौर सहायक निर्देशक काम शुरू किया तब से अब तक साठ बरस गुजर गए। इन साठ वर्षों में कैमरे के पीछे रहते हुए उन्होंने कई नायकों को सुपरस्टार का दर्जा दिलाते हुए 'जब तक है जान' (2012) तक का सफर बड़े सलीके से तय किया। इन साठ बरसों में यश चोपड़ा के सामने कई पीढ़ियां गुजरी हैं। 'धूल के फूल' के जमाने के युवा या तो उम्र के उस पड़ाव पर आ गए हैं, जहां से उन्हें जिंदगी के साथ तारतम्य स्थापित करना भारी पड़ रहा है या फिर वे तस्वीरों में कैद होकर दीवारों पर टंग गए हैं। 'दीवार' के समय के तमाम युवा अब उम्र के अंतिम पड़ाव पर हैं। 'डर' के समय के युवा अब जाहिराना तौर पर वहां खड़े हैं जहां से प्रौढ़ावस्था की दहलीज शुरू हो जाती है। मगर स्वयं यश चोपड़ा अभी भी वहीं थे, उसी जगह पर थे, उसी उम्र पर थे जहां से उन्होंने कभी 'धूल का फूल' से अपनी निर्देशकीय पारी शुरू की थी।

यश चोपड़ा का हिन्दी फिल्मों में योगदान कई वजहों से याद किया जाता रहेगा। इसमें कोई शक नहीं कि यश जी ही ऐसे पहले निर्देशक थे जिन्होंने 'बिछड़ने-मिलने' (Lost & Found) वाले हिन्दी सिनेमा के कालजयी कांसेप्ट को पर्दे पर उतारा और हिन्दी सिनेमा को सफलता की एक नायाब कुंजी थमा दी। इसके अलावा यश जी ने फिल्मों में 'मल्टी स्टार' परंपरा भी शुरू की। 'वक्त' (1965) में उनका यह प्रयोग भी फिल्मों की सफलता की गारंटी के रूप में स्थापित हुआ। यश जी के अन्य कई प्रयोग भी थे, जो कालांतर में हिन्दी सिनेमा के लिए अपरिहार्य तत्व के रूप में काम करते रहे। वे थे-अच्छा गीत-संगीत, भव्य लोकेशन, फूलों की वादियां, एक दूसरे में डूबते-इतराते प्रेमी-प्रेमिका और अच्छी पटकथा का समावेश। उल्लेखनीय बात यह है कि 'फिल्म मेकिंग' में इन प्रयोगों को बेशक यश जी ने शुरू किया, लेकिन आगे का शायद ही कोई निर्देशक रहा हो जिसने इनका अपनी फिल्मों में इस्तेमाल न किया हो। वे चाहे सुभाष घई हों या करण जौहर...। बहरहाल इन सबके बावजूद यश जी अपने आपको लगातार सफल साबित करते हुए आगे बढ़ते रहे, जबकि उन्हीं के प्रयोगों को आजमाते हुए उनके साथ के और बल्कि यूं कहें कि उनके बाद आए तमाम सफल निर्देशक धीरे-धीरे 'पहचान का संकट' के शिकार हो गए। यह जांच-पड़ताल का विषय तो है, लेकिन सामान्य से शोध के बाद यह निष्कर्ष निकल आएगा कि इन प्रयोगों को यश चोपड़ा ने अपनी 'फिल्म मेकिंग' में दोहराया नहीं। वहीं अन्य निर्देशक इन प्रयोगों से आगे नहीं

निकल पाए। सच कहें, दोहराव तो शायद यश जी की फिल्म मेकिंग में था ही नहीं...। मिसाल के तौर पर 'धूल का फूल' में जब यश ने अवैध संतान की दास्तानगोई की थी तो यह नया ट्रेंड था, बदलाव था हिन्दी सिनेमाई बस्ती में। विषय एकदम नया, लीक से हटकर। बहरहाल फिल्म हिट थी लेकिन इसके बाद यश ने इसी विषय को गांठ से नहीं बांधा। अगली फिल्म 'धरमपुत्र' थी, जिसने हिन्दू-मुस्लिम एकता का अलम फहराते हुए राष्ट्रीय पुरस्कार जीता। इसके बाद आई 'वक्त' में यश जी ने हिन्दी फिल्मों को हिट बनाने वाले तमाम अवयव एक साथ सौंप दिए। उनकी पीढ़ी के तमाम निर्देशक इन्हीं अवयवों से सफलता की इबारत लिखते रहे मगर यश जी ने अपने ही गढ़े फार्मूलों में नया ताना-बाना रचते हुए 'दाग' जैसी संजीदा फिल्म बनाकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। 1972 में 'दाग' के बहाने यशराज चोपड़ा ने अपना नया बैनर बनाया। 'दाग' यशराज बैनर के तले बनने वाली पहली फिल्म थी। यह फिल्म गुलशन नंदा की कहानी पर आधारित थी जिसमें एक बार फिर यश चोपड़ा ने सामाजिक नियमों को चुनौती दी। प्रेम त्रिकोण का एक नया रंग इस फिल्म में था। इसके बाद 'दीवार' के मार्फत यश जी ने एंग्री यंग मैन का चरित्र गढ़कर न केवल सिनेमा के ट्रेंड को बदल दिया, बल्कि अमिताभ बच्चन के लिए सदी का महानायक बनने का पथ भी प्रशस्त कर दिया। 1975 में 'दीवार' ने 'मेरे पास मां है' जैसा कालजयी संवाद सिने प्रेमियों को दिया। सलीम-जावेद की स्क्रिप्ट ने नया सिने ट्रेंड स्थापित किया। इसके बाद अमिताभ बच्चन और यश जी का साथ 'त्रिशूल', 'कभी कभी', 'सिलसिला' और 'काला पत्थर' तक चलता रहा। 'त्रिशूल', 'कभी कभी', 'सिलसिला' के बहाने यश चोपड़ा ने कुछ व्यक्तिगत कहानियों को व्यावसायिक रूप दिया। व्यावसायिक सफलता-असफलता के बीच झूलती इन फिल्मों का संगीत अमर हो गया। ख्य्याम और साहिर के संगीत-गीत की जुगलबंदी से इन फिल्मों को लोकप्रियता मिली। यह कहने में कोई हर्ज नहीं कि बेशक अमिताभ अपने आगे के करियर में प्रकाश मेहरा और मनमोहन देसाई के ज्यादा नजदीक रहे मगर उनकी शख्सियत में अगर किसी ने रंग भरा तो वे यश चोपड़ा ही थे।

इस बीच यश जी फिल्में बनाते रहे, असफलता का एक अदना-सा दौर भी देखा। 1989 में उन्होंने मध्यवर्गीय परिवार की किसी चुलबुली और सपनों में जीने वाली लड़की 'चांदनी' को पर्दे पर उतारा। 'चांदनी' के रूप में श्रीदेवी का नया अवतार हिन्दी सिने प्रेमियों के सामने था। 'चांदनी' के बहाने स्विट्जरलैंड के आल्पस पर्वत पर बलखाती नायिका की दिलकश अदाओं के जरिए यश जी ने सौंदर्य का महाकाव्य-सा लिख डाला। 'चांदनी' के बाद 'लम्हे' में उन्होंने जिस तरह की कहानी पर फिल्म बनाई वह एक जोखिम भरा क्रिएशन था, मगर यश जी ने यहां भी एक स्वीकार्यता पैदा की।

1993 में यश जी का सफर शुरू होता है आज के समय के सबसे मशहूर और मकबूल अदाकार शाहरुख खान के साथ। 'डर' में जुनूनी मगर दब्बू प्रेमी 'राहुल' के रूप में यश जी ने शाहरुख का ऐसा किरदार गढ़ा जो शायद हिन्दी सिनेमा में इससे पहले कभी नहीं रचा गया, यहीं से सिनेमा को एक नया सुपरस्टार मिला। इसके बाद तो शाहरुख के साथ उनकी जुगलबंदी 'दिल तो पागल है', 'वीर जारा' और 'जब तक है जान' तक चली।

यश चोपड़ा की फिल्मों में प्रेम की खुशबू, संबंधों के जटिल ताने-बाने, रुपहले हुस्न को अलग अंदाज में पेश किया गया, यहां नायिका में नायिका होने के गुमान का एहसास दिखता था। स्विटजरलैंड को जिस तरीके से उन्होंने भारतीय दर्शकों के सामने प्रस्तुत किया वह काबिल-ए-दाद है। श्रीदेवी, जूही चावला, माधुरी दीक्षित और कैटरीना कैफ को जिस तरह उन्होंने पेश किया वह एक मिसाल है।

वे पहले ऐसे निर्देशक थे, जिन्होंने अंतरराष्ट्रीय बाजार और आप्रवासी भारतीयों की ताकत को जाना। ओवरसीज बिजनेस उनके क्रिएशन का हिस्सा बना। बीते दो दशकों में उन्होंने विदेश में अपनी फिल्मों को रिलीज कर अपनी फिल्मों को व्यावसायिक रूप से मजबूत किया। आप्रवासी भारतीयों को रिझाने की गरज से उन्होंने विदेशी लोकेशन्स, फ्यूजन संगीत और अपनी मिट्टी से छूट जाने की आप्रवासीय छटपटाहट को बेजोड़ तरीके से प्रस्तुत किया और वे इसमें कामयाब भी रहे। अमेरिका में पंजाबी टप्पे-भांगड़ा का होना उनकी फिल्मों को अंतरराष्ट्रीय बाजार का हिस्सा बनाता रहा।

उन्हें समकालीन समाज की नब्ज पकड़नी आती थी। शायद यही कारण था कि जब 60 और 70 के दशक में नेहरू का समाजवाद कमजोर पड़ रहा था, उन्होंने 'धूल का फूल' और 'दाग' जैसी फिल्में दीं, जो तत्कालीन समाज की दबी जुबान को अभिव्यक्ति देने का माध्यम बनीं। 'काला पत्थर' में उन्होंने मजदूरों की आवाज को बुलंद किया तो 'वीर जारा' में भारत-पाकिस्तान की समकालीन परिस्थितियों को समझते हुए प्रेम का तड़का लगाया। यश जी का फैसला था कि 'जब तक है जान' के बाद वे रिटायर हो जाएंगे, लेकिन क्या पता था कि वे दुनिया से ही चले जाएंगे।

उन्हें मनोरंजक फिल्म बनाने के लिए पांच बार बतौर निर्माता निर्देशक के रूप में राष्ट्रीय पुरस्कार मिला। 'वक्त', 'धरमपुत्र', 'इत्तेफाक', 'दाग', 'दीवार' के लिए उन्हें बेहतरीन निर्देशक का फिल्म फेअर अवॉर्ड मिला। 2005 में पद्मभूषण और 2001 में दादा साहेब फालके अवार्ड भी उन्हें मिला।

यश जी को याद करते हुए यही कहा जा सकता है कि उन्होंने सिनेमा को गत्यात्मकता और कलात्मकता प्रदान की। व्यावसायिकता को ध्यान में रखते हुए कहानी-पात्र-गीत-संगीत-संवाद का जो संपूर्ण पैकेज उनकी फिल्मों में मिलता है, वह और कहीं नहीं। बेशक वे बिमल रॉय, बासु चटर्जी, मृणाल सेन, श्याम बेनेगल की परंपरा के नहीं हैं, लेकिन यह भी सच है कि वे सत्य के खुरदुरे धरातल से आम आदमी को ख्वाब के उस उफक पर ले जाते हैं-जहां प्यार है, रोमांस है, धड़कन है, सांस है, दिल है, जज्बात हैं, जुनून है और इश्क है...।

❖❖❖

'सिंह सदन' गली-7, मैनपुरी (उ.प्र.)
मो. 09412290079